

बृहत्संहिता में स्थापत्यविज्ञान एवं निर्माणकौशल : प्राचीन भारतीय वास्तुपरम्परा का तात्त्विक एवं प्रायोगिक अनुशीलन

उदय कर्मकार¹ 

प्राप्ति: 17 सितम्बर 2026 / स्वीकृत: 24 सितम्बर 2026 / प्रकाशित: 30 सितम्बर 2026

Copyright © 2026 Author(s). Published by Siri Research Foundation. This is an open access article distributed under the Creative Commons Attribution International License (CC BY 4.0).

शोध सारांश

भारतीय ज्ञान-परम्परा में वास्तुकला केवल आवासगृह, राजप्रासाद अथवा देवमन्दिर के निर्माण की निर्माणविद्या नहीं है। इसके साथ भूमिचयन, दिक्-निर्णय, मापन, गृहविन्यास, द्वार एवं स्तम्भों की योजना, जलस्रोतों का अन्वेषण पर्यावरणचेतना तथा धार्मिक-सांस्कृतिक मान्यताएँ अन्तरङ्ग रूप से सम्बद्ध हैं। वराहमिहिर-प्रणीत बृहत्संहिता में वास्तु-विषयक विवेचन के माध्यम से इस बहुमुखी ज्ञानव्यवस्था का एक सुव्यवस्थित रूप दृष्टिगोचर होता है। विशेषतः वास्तुविद्या, उद्गार्गल तथा प्रासादलक्षण से सम्बद्ध अध्यायों में भूमि एवं गृह के मापन, वास्तुपुरुष की संकल्पना, वास्तुमण्डल की संरचना, मर्मस्थानों, गृह के विभिन्न अवयवों की परिमिति, द्वार, स्तम्भ, शाला एवं आलिन्द की योजना तथा देवमन्दिरों के स्थापत्यरूप के सम्बन्ध में विस्तृत निर्देश प्राप्त होते हैं।

इस विवेचन में वास्तुकला को एक साथ परिमाणविज्ञान, निर्माणप्रौद्योगिकी, पर्यावरणविज्ञान तथा धार्मिक-सांस्कृतिक विधानों के समन्वित रूप में प्रस्तुत किया गया है। विशेष रूप से उल्लेखनीय है कि गृहनिर्माणप्रसङ्ग में जहाँ निश्चित माप, परिमाण एवं अनुपात के अनुसरण पर गुरुत्व आरोप किया गया है, वहीं देवमन्दिरनिर्माण के प्रसङ्ग में स्थान की पवित्रता, जलाशयों, उद्यानों, प्राकृतिक सौन्दर्य तथा देवता के अनुकूल परिवेश को भी महत्त्व प्रदान किया गया है। फलतः बृहत्संहिता में प्रतिपादित वास्तु-चिन्तन प्राचीन भारतीय निर्माणकुशलता को केवल स्थापत्यकला की परिधिओं में आबद्ध न रखकर उसे एक सुव्यवस्थित जीवनदर्शन तथा प्रयोगधर्मी ज्ञान-व्यवस्था के साथ संयुक्त करता है। इस दृष्टि से बृहत्संहिता का वास्तु-विवेचन भारतीय स्थापत्यपरम्परा के निर्माणशैली पर्यावरणगत सांस्कृतिक तथा दार्शनिक बिन्दुओं के समन्वित अध्ययन के लिए एकान्त उल्लेखनीय स्रोत के रूप में परिगणित होता है।

प्रमुख शब्द: बृहत्संहिता, वराहमिहिर, वास्तुविद्या, मर्मस्थान, गृह-निर्माण, उद्गार्गल, प्रासादलक्षण, भारतीय वास्तुकला।

प्रस्तावना

प्राचीन भारतीय ज्ञानपरम्परा में वास्तुकला का स्थान अत्यन्त महनीय है। मानवजीवन के साथ भूमि, गृह, नगर, उद्यान, जलाशय तथा देवमन्दिर का जो निबिड सम्बन्ध है, प्राचीन स्थापत्यशास्त्र में उसी सम्बन्ध की एक सुव्यवस्थित व्याख्या दृष्टिगोचर होती है। वहाँ स्थापत्य केवल निर्माणकौशल न होकर भूमिचयन से लेकर निर्माण के आरम्भ तक, गृह के आयाम से लेकर उसके उच्चता तक प्रवेशद्वार से लेकर आन्तरिक विन्यास तक तथा निर्माणसंस्कार से लेकर गृहप्रवेश तक की सम्पूर्ण प्रक्रिया को निश्चित विधि, माप और अनुपात के अन्तर्गत विन्यस्त किया गया है। बृहत्संहिता में

1 शोधच्छात्र, स्नातकोत्तर संस्कृत विभाग, राँची विश्वविद्यालय, राँची, झारखण्ड, भारत

✉ उदय कर्मकार, E-mail: udaykarmakar127@gmail.com

वास्तुविद्या तथा प्रासादलक्षण से सम्बन्धित विवेचन इस समृद्ध स्थापत्यपरम्परा का एक अप्रतिरोध्य प्रमाण है।

वास्तुविद्या के प्रारम्भ में वास्तुज्ञान को प्राचीन मुनि-परम्परा से सम्बद्ध किया गया है और वास्तुपुरुष की सङ्कल्पना के माध्यम से भूमि तथा स्थापत्य को एक निश्चित तात्त्विक संरचना के माध्यम से प्रतिष्ठित किया गया है। इसके पश्चात् विभिन्न वर्गों एवं पदों से सम्बद्ध व्यक्तियों के लिए गृह के मापन, गृह के विस्तार उच्चता, शाला, आलिन्द, द्वार, स्तम्भ आदि के परिमाण निर्धारित किए गए हैं। इससे स्पष्ट होता है कि यहाँ स्थापत्य की मूलाधारणा परिमाण, अनुपात और विन्यास पर सुप्रतिष्ठित है।

“वास्तुज्ञानमथातः कमलभवान्मुनिपरम्परायातम् ।

क्रियतेऽधुना मयेदं विदग्धसांवत्सरप्रीत्यै” ॥^१

इस स्थापत्य-चिन्तन की एक अन्य गौरवशाली विशेषता उसका प्रयोगात्मक पक्ष है। भूमि निर्माण के लिए उपयुक्त है अथवा नहीं—इसके निर्धारण के लिए मृत्तिका जल, गन्ध, वर्ण, वनस्पति तथा अन्य प्राकृतिक लक्षणों के परीक्षण का विधान किया गया है। निर्माण से पूर्व भूमिपरीक्षण, शुभ समय का चयन, भूमिपूजा, रेखाङ्कन तथा प्रथम शिला अथवा इष्टका की स्थापना जैसे विविध संस्कार भी निर्माण-प्रक्रिया के अङ्गस्वरूप परिगणित हुए हैं। अर्थात् निर्माणकार्य को यहाँ योजना, शैली और संस्कार—इन तीनों के समन्वित रूप में विवेचन हुआ है।

वास्तुविद्या तथा वास्तुमण्डल : स्थापत्य की तात्त्विक आधारभूमि

वास्तुविद्या की प्रमुख विशेषताओं में से अन्यता है गृह को निश्चित परिमाण एवं अनुपात के अधीन विन्यस्त करना। राजा, सेनापति, अमात्य, युवराज, पुरोहित, वैद्य आदि विभिन्न सामाजिक एवं प्रशासनिक पदों पर स्थित व्यक्तियों के लिए पृथक्-पृथक् गृहपरिमाण निर्धारित किए गए हैं। इसी प्रकार विभिन्न वर्णों के लिए भी गृह के विस्तार एवं प्रकार में भिन्नता का निर्देश प्राप्त होता है। इससे ज्ञात होता है कि प्राचीन स्थापत्यचिन्तन में गृह केवल व्यक्तिगत आश्रयस्थल नहीं था। प्रत्येक व्यक्ति की सामाजिक स्थिति तथा उसके कार्यगत प्रयोजन के अनुरूप गृह के आकार एवं विन्यास निर्धारित होकर विनिर्मित होता था। गृह के विस्तार और उसकी उच्चता के पारस्परिक सम्बन्ध पर भी यहाँ विशेष विवेचन किया गया है। शालायुक्त गृह के प्रसङ्ग में दैर्घ्य और विस्तार का अनुपात निर्धारित किया गया है तथा बृहत्तर गृह से लघुतर गृह तक परिमाण के क्रमिक हास का विधान किया गया है। गृह की दीर्घता भी उसके विस्तार के साथ सम्बद्ध मानी गई है। अर्थात् स्थापत्य में किसी एक अवयव का परिमाण अन्य अवयवों के परिमाण के निर्धारण में भी सक्रिय भूमिका पालन करता है। आधुनिक अर्थ में इसे अनुपात-आधारित स्थापत्ययोजना कहा जा सकता है; यद्यपि इसकी मूल संकल्पना और व्याख्या बृहत्संहिता की अपनी पारिभाषिक एवं स्थापत्यगत संरचना में ही निहित है।

गृह के विभिन्न अवयवों में शाला और आलिन्द विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। शाला को गृह के आन्तरिक प्रधान भाग के रूप में तथा आलिन्द को उसके बाह्य, सोपानयुक्त अथवा संक्रमणकारी क्षेत्र के रूप में ग्रहण किया गया है। इसी क्रम से गृह के आन्तरिक और बाह्य भागों के मध्य स्थित क्षेत्र को भी स्थापत्ययोजना का गुरुत्वपूर्ण भाग माना गया है। यह विन्यास केवल व्यावहारिक सौविध्य की दृष्टि से उल्लेखनीय न होकर गृह के समग्र स्थापत्यरूप का भी अभिन्न अङ्ग के रूप में सिद्ध होता है। गृह के विस्तार और उच्चता के पारस्परिक सम्बन्ध के विषय में कहा गया है—

“वास्तुनि यो विस्तारः स एव चोच्छ्रायनिश्चयः शुभदः ।

शालैकेषु गृहेष्वपि विस्ताराद्विगुणितं दैर्घ्यम्” ॥^२

इन निर्देशों से स्पष्ट होता है कि गृह-स्थापत्य में मापन और अनुपात को मूलभूत सिद्धान्त के रूप में स्वीकार किया गया था।

बृहत्संहिता की वास्तुविद्या में वास्तुमण्डल की संकल्पना स्थापत्यशास्त्र के प्रमुख केन्द्रीय विषयों में से अन्यतम है। एकाशीतिपद तथा चतुःषष्टिपद विन्यास के उल्लेख से ज्ञात होता है कि भूमि को निश्चित संख्या में पदों में विभक्त करके उनमें विभिन्न देवताओं के स्थान निर्धारित किए जाते थे। एकाशीतिपद वास्तुमण्डल के मध्यभाग में ब्रह्मा की स्थिति तथा विभिन्न दिशाओं में विभिन्न देवताओं के स्थान-निर्धारण के माध्यम से भूमि को एक सुव्यवस्थित एवं पवित्र विन्यास प्रदान किया गया है। वास्तुपुरुष के शरीर के विभिन्न अवयवों के साथ विभिन्न स्थानों और देवताओं का

सम्बन्ध स्थापित किया गया है। मस्तक, हृदय, पाद आदि शरीरावयवों को विशिष्ट क्षेत्रों के साथ सम्बद्ध होकर गृह के आन्तरिक विन्यास एक जीवित संगठन के सदृश दृश्यमान होता है। इसी संकल्पना से मर्मस्थान का विचार भी सम्बद्ध है। जहाँ विभिन्न रेखाएँ परस्पर प्रतिच्छेद करती हैं, उन सङ्गमबिन्दुओं को विशेष रूप से संवेदनशील माना गया है। वहाँ स्तम्भ, शलाका अथवा किसी अन्य निर्माणसामग्री द्वारा आघात करने में निषेध किया गया है। इस प्रकार स्थापत्य की ज्यामितीय संरचना तथा वास्तुपुरुष की प्रतीकात्मक देहसंरचना परस्पर सम्पृक्त होकर प्रतिभात होता है। इस सन्दर्भ में बृहत्संहिता निर्देश करता है—

“सम्पाता वंशानां मध्यानि समानि यानि च पदानाम् ।

मर्माणि तानि विन्यान् तानि परिपीडयेत् प्राज्ञः”॥^३

मर्मस्थान की वर्णन से एक तथ्यान्तर भी भासित होता है—प्राचीन स्थापत्य-चिन्तन में गृह के विभिन्न अंगों को परस्पर पृथक् एवं स्वतन्त्र उपादानों के रूप में नहीं देखा गया था। सम्पूर्ण गृह में एक समञ्जसता विद्यमान होती है और उस समञ्जसता के भङ्ग होने पर उसका परिणाम भी अनुकूल नहीं होता है। अतः वास्तुमण्डल एकतः ज्यामितीय योजना का आधार है, द्वितीयतः गृह के प्रतीकात्मक एवं धार्मिक विन्यास का भी आधारभूत है।

गृह-विन्यास एवं स्थापत्यरूप

वास्तुविद्या के विवेचन में गृह के विविध विन्यासों के लिए विशिष्ट नामों का प्रयोग किया गया है। सर्वतोभद्र, नन्द्यावर्त, वर्धमान, स्वस्तिक, रुचक आदि नामों के माध्यम से शाला, आलिन्द तथा द्वारों के पारस्परिक विन्यास के आधार पर गृह के विभिन्न प्रकारों को अभिहित किया गया है। इससे स्पष्ट होता है कि प्राचीन भारतीय स्थापत्य में गृहयोजना एक सुव्यवस्थित वैज्ञानिक प्रक्रिया थी। बृहत्संहितानुसार केवल आकार की भिन्नता ही नहीं, आन्तरिक विन्यास के परिवर्तन से भी गृह का पृथक् स्थापत्यरूप निर्मित होता था —

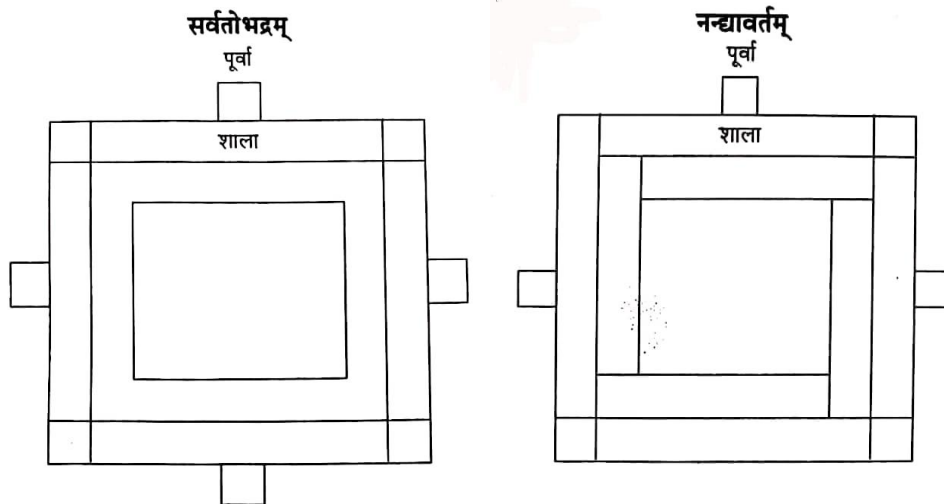
“अप्रतिषिद्धालिन्दं समन्ततो वास्तु सर्वतोभद्रम् ।

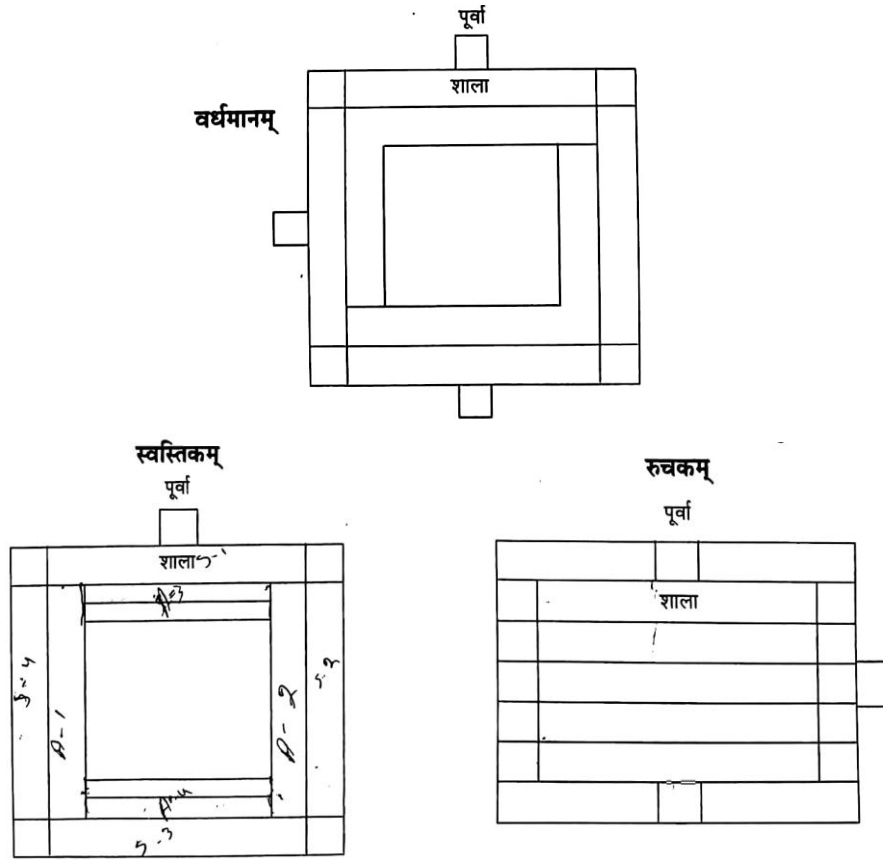
नृपविबुधसमूहानां कार्यं द्वारैश्चतुर्भिरपि ॥

नन्द्यावर्तमलिन्दैः शालाकुड्यात्प्रदक्षिणान्तगतैः ।

द्वारं पश्चिममस्मिन् विहाय शेषाणि कार्याणि”॥^४

यहाँ पञ्चविध गृह विन्यासों के सम्भावित चित्र सन्नद्ध किये जा रहे हैं।^५





सर्वतोभद्र गृह के सम्बन्ध में चतुर्दिशाओं में वीथिका अथवा गमनपथ के होने का निर्देश मिलता है और इस विन्यास को विशेष रूप से शुभ माना गया है। नन्द्यावर्त, वर्धमान, स्वस्तिक तथा रुचक इत्यादि गृहरूपों में भी शाला, आलिन्द और प्रवेशद्वारों की स्थिति एवं पारस्परिक विन्यास के आधार पर उनके नाम तथा विशिष्टताएँ निश्चित की गई हैं। इस प्रकार स्थापत्य में नामकरण भी एक प्रकार की रीतिगत अथवा विन्यासपरक भाषा का रूप ग्रहण कर लेता है। गृहयोजना को विशिष्ट नामों के माध्यम से वर्गीकृत करने की यह पद्धति स्थापत्यज्ञान के संरक्षण तथा उसके व्यावहारिक अनुप्रयोग की दृष्टि से महत्वपूर्ण रही होगी।

गृह के प्रवेशद्वार को स्थापत्य का एक विशेष अङ्ग के रूप में माना गया है। वराहमिहिर के अनुसार द्वार की प्रशस्तता, उच्चता, शाखा तथा अन्य अवयवों के मध्य निश्चित अनुपात स्थिर करना आवश्यक होता है—

“उच्छायोऽङ्गुलतुल्यो द्वारस्यार्धेन विष्कम्भः” ॥^६

द्वार की स्थिति को भी शुभाशुभ फल के साथ सम्बद्ध किया गया है। यदि कोई द्वार मार्ग, वृक्ष, स्तम्भ, प्राचीर अथवा किसी अन्य अवरोध से बाधित हो, तो उसे स्थापत्य की दृष्टि से अनुकूल नहीं माना गया है। इससे स्पष्ट होता है कि प्रवेश-पथ की योजना में केवल सौन्दर्य का ही विचार नहीं किया गया, बल्कि स्थानिक अवकाश तथा आवागमन की सुविधा को भी महत्व प्रदान किया गया था। स्तम्भों के विषय में भी निश्चित परिमाण तथा उनके विभिन्न प्रकारों का उल्लेख सम्प्राप्त होता है। स्तम्भ केवल भार वहन करने वाले निर्माणोपादान ही नहीं, गृह की शोभा तथा स्थापत्य-शैली के एक प्रयोजनीय अङ्ग के रूप में भी प्रयुक्त होता था। निर्माण के विभिन्न अवयवों के मध्य परिमाणगत सामञ्जस्य बनाए रखने के विषय पर जो सक्रिय दृष्टि दी गई है, उससे स्पष्ट होता है कि यहाँ स्थापत्य-सौन्दर्य का आधार मुख्यतः सामञ्जस्य, भारसाम्य तथा अनुपात में निहित है। स्तम्भों के विभिन्न प्रकारों के सम्बन्ध में कहा गया है—

“समचतुरस्रो रुचको वज्रोऽष्टाश्रिर्द्विवज्रको द्विगुणः ।

द्वात्रिंशता तु मध्ये प्रलीनको वृत्त इति वृत्तः ॥

स्तम्भं विभज्य नवधा वहनं भागो घटोऽस्य भागोऽन्यः ।

पद्मं तथोत्तरोष्ठं कुर्याद्भागेन भागेन” ॥^९

द्वार तथा स्तम्भ के परिमाण-निर्धारण में प्रयुक्त यह अनुपातनिर्भर पद्धति स्थापत्य के प्रयुक्तिगत पक्ष को स्पष्ट रूप से उद्घाटित करती है। इससे यह भी ज्ञात होता है कि बृहत्संहिता में स्थापत्यविचार केवल धार्मिक अथवा प्रतीकात्मक धारणाओं तक सीमित न रहकर मापन, विन्यास, अनुपात और निर्माणप्रयोग से सम्बन्धित व्यावहारिक ज्ञान भी संहत रूप में निहित है।

कोई भी निर्माणकार्य के प्रारम्भ से पूर्व भूमि के गुण-दोषों का परीक्षण करना प्राचीन स्थापत्यचिन्तन की एक विशिष्ट विशेषता है। भूमि का वर्ण, गन्ध, रस, जलधारण-क्षमता, वनस्पति-विविधता तथा अन्य प्राकृतिक विशेषताओं का परीक्षण करके उसके निर्माणोपयोगी होना अथवा न होना निर्धारित होता है। मृत्तिका के परिमाणात्मक परीक्षण के लिए गर्त खनन कर पुनः उसी मृत्तिका से उसे पूर्ण करने की पद्धति का भी वर्णन किया गया है। इसी प्रकार गर्त में जल पूर्ण कर उसमें होने वाले परिवर्तन का निरीक्षण तथा विभिन्न वर्णों के पुष्पों के माध्यम से भूमि के स्वरूप का परीक्षण निर्दिष्ट हुआ है—

“गृहमध्ये हस्तमितं खात्वा परिपूरितं पुनः श्वश्रम् ।

यद्यूनमनिष्टं तत्समे समं धन्यमधिकं यत्” ॥^{१०}

भूमि की शैली प्रभूत गुरुत्वों से चर्चित हुई है। विभिन्न दिशाओं में भूमि की उच्चता और निम्नता के साथ विभिन्न वर्गों के लोगों के निवास की उपयुक्तता का सम्बन्ध स्थापित किया गया है। साथ ही भूमि की समतलता और स्थिरता को गृहनिर्माणार्थ अनुकूल माना गया है। इन समस्त निर्देशों से स्पष्ट होता है कि निर्माण से पूर्व भूमि के सम्बन्ध में निरीक्षण एवं परीक्षण को स्थापत्ययोजना का अनिवार्य अङ्ग परिगणित होता है। निर्माण के प्रारम्भिक चरण में भूमिपूजा, बीज-वपन, ब्राह्मण एवं गो-सम्बन्धी संस्कार, शुभ समय का चयन तथा गृहपति की स्थिति के अनुरूप रेखाङ्कन करने का भी विधान मिलता है। रेखाङ्कन के उपकरण तथा उसकी प्रक्रिया के सम्बन्ध में भी शुभाशुभ का विचार किया गया है। इस प्रकार निर्माणप्रक्रिया का शुभारम्भ केवल व्यावहारिक या प्रौद्योगिक क्रिया न रहकर धार्मिक एवं प्रतीकात्मक महत्त्व से भी समृद्ध हो जाता है।

स्थापत्य-अनुशासन एवं पर्यावरण

गृहनिर्माण के प्रसङ्ग में प्रथम शिला अथवा इष्टका की स्थापना से लेकर आगे के निर्माणोपादानों को स्थापित करने तक एक निश्चित क्रम का निर्देश किया गया है। दक्षिणपूर्व कोण से निर्माणकार्य का आरम्भ, उसके पश्चात् विभिन्न भागों का क्रमिक विन्यास तथा स्तम्भों की स्थापना में विशेष सावधानता रक्षा करने का निर्देश प्राप्त होता है। निर्माण में होने वाले दोष, वक्रता, असमानता अथवा किसी विशिष्ट दिशा में असामान्य उच्चता या निम्नता को भी विभिन्न प्रतिकूल परिणामों के साथ सम्बद्ध किया गया है। निर्माण से पूर्व सम्पन्न होने वाले संस्कार के विषय में कहा गया है—

“कृष्टां प्ररूढबीजां गोऽध्युषितां ब्राह्मणैः प्रशस्तां च ।

गत्वा महीं गृहपतिः काले साम्बत्सरोद्दिष्टे ॥

भक्ष्यैर्नानाकारैर्दध्यक्षतसुरभिकुसुमधूपैश्च ।

दैवतपूजां कृत्वा स्थपतीनभ्यर्च्य विप्रांश्च” ॥^{११}

गृह के विभिन्न भागों के उपयोग का भी निश्चित विधान किया गया है। उत्तरपूर्व दिशा में देवताओं के लिए स्थान, दक्षिण-पूर्व में पाकशाला, दक्षिणपश्चिम में द्रव्य अथवा उपकरणों के सङ्ग्रह का स्थान तथा उत्तर-पश्चिम में धनधान्य के संरक्षण का स्थान निर्धारित करने का निर्देश मिलता है। इस प्रकार गृह की स्थापत्य-योजना दैनिक जीवनव्यवस्था के साथ प्रत्यक्ष रूप से सम्बद्ध हो जाती है। गृह के विभिन्न कक्षों तथा अवयवों के स्थान-निर्धारण के माध्यम से उपयोगिता और स्थान-विन्यास को परस्पर समन्वित किया गया है।

वास्तुविद्या के विवेचन में वृक्षों की उपस्थिति को भी विशेष महत्त्व प्राप्त हुआ है। गृह के आसपास किस प्रकार के वृक्ष होने चाहिए और किन वृक्षों से अपनी रक्षा करनी है, इस विषय में एक स्पष्ट दृष्टिकोण उपलब्ध होता है। पक्षियों के नीड से युक्त, शुष्क, भग्न अथवा अग्निदग्ध वृक्षों तथा विशिष्ट धार्मिक एवं सामाजिक प्रयोजनों से सम्बद्ध वृक्षों के सम्बन्ध में सावधानी का निर्देश प्राप्त होता है। इसी प्रकार दिशानुसार वृक्षों की स्थिति तथा उनसे सम्बद्ध सम्भावित फल का भी विचार किया गया है।

वृक्षच्छेदन के प्रसङ्ग में भी एक विशिष्ट संस्कारपद्धति का निर्देश मिलता है। वृक्ष की रात्रि में पूजा करके अग्रिम दिवस प्रातःकाल निर्धारित विधि से उसका छेदन करने का निर्देश प्राप्त होता है। यदि कोई वृक्ष उत्तर अथवा पूर्व दिशा के अभिमुख पतित होता है, तो उसे शुभफलदायक माना गया है; अन्य दिशाओं में उसके पतन के भिन्न-भिन्न परिणाम उल्लिखित हैं। इससे स्पष्ट होता है कि वृक्ष को केवल निर्माणकार्य में बाधक अथवा अपसारणयोग्य वस्तु के रूप में नहीं देखा गया, अपितु उसे गृह-परिवेश के एक महनीय प्राकृतिक अवयव के रूप में स्वीकार किया गया था। वृक्षों की दिशानुसार शुभाशुभता के विषय में कहा गया है—

“याम्यादिष्वशुभफला जातास्तरवः प्रदक्षिणेनैते ।

उदगादिषु प्रशस्ताः प्लक्षवटौदुम्बराश्चत्थाः॥

आसन्नाः कण्टकिनो रिपुभयदाः क्षीरिणोऽर्थनाशाय ।

फलिनः प्रजाक्षयकरा दारूण्यपि वर्जयेदेषाम्”॥^{१०}

इन निर्देशों से स्पष्ट होता है कि बृहत्संहिता ने गृहस्थापत्य और वृक्षजगत् के पारस्परिक सम्बन्ध को विशेष रूप से चर्चित किया है। यहाँ वृक्ष केवल प्राकृतिक सौन्दर्य के साधन नहीं हैं; उनकी स्थिति, प्रकृति और दिशा को गृहपरिवेश तथा उसके फलित परिणामों के साथ भी सम्बद्ध किया गया है। इस प्रकार गृहस्थापत्य के साथ पर्यावरणीय अवयवों को युक्तकारी एक विशिष्ट दृष्टि यहाँ परिलक्षित होती है।

स्थापत्य के साथ जल-संसाधनों का सम्बन्ध भी यह गुरुत्वों से व्याख्यायित हुआ है। वास्तुविद्या के पश्चात् उद्गर्गल नामक अध्याय में भूमिगत जल से सम्बन्धित ज्ञान को एक स्वतन्त्र विषय के रूप में प्रस्तुत किया गया है। जिस प्रकार मानवशरीर में रुधिरप्रवाह के लिए नाड़ियों का अस्तित्व माना जाता है, उसी प्रकार पृथ्वी के अन्तर्भाग में भी जलवहन करने वाली शिराएं अथवा प्रवाहमार्ग कल्पित हुई हैं। इसी आधार पर भूमिगत जल को परिचित करने की विधि का विवेचन किया गया है—

“धर्म्यं यशस्यं च वदाम्यतोऽहं दकार्गलं येन जलौपलब्धिः ।

पुंसां यथाङ्गेषु शिरास्तथैव क्षितावपि प्रोन्नतनिम्नसंस्थाः ॥

एकेन वर्णेन रसेन चाम्भश्च्युतं नभस्तो वसुधाविशेषात् ।

नानारसत्वं बहुवर्णतां च गतं परीक्ष्यं क्षितितुल्यमेव”॥^{११}

आकाश से वर्षित जल स्वभावतः वर्ण एवं रस से रहित होता है; किन्तु विभिन्न प्रकार की मृत्तिका तथा भूमिस्तरों के सम्पर्क में आने पर उसके वर्ण, रस एवं स्वरूप परिवर्तित हो जाता है—इस प्रकार के निरीक्षण को भूमिगत जल की परिचिति के साथ सम्बद्ध किया गया है। विभिन्न दिशाओं के साथ विभिन्न जलशिराओं का सम्बन्ध स्थापित करना तथा विशिष्ट प्राकृतिक लक्षणों के आधार पर भूमिगत जल की उपस्थिति का अनुमान करना इस अध्याय का प्रमुख वैशिष्ट्य है। इस प्रकार जल का अनुसन्धान केवल जल-प्राप्ति की एक पृथक् प्रक्रिया न रहकर प्राचीन भारतीय स्थापत्य एवं भूमियोजना का एक प्रमुख अङ्ग सिद्ध होता है। भूमि के चयन से लेकर गृहनिर्माण तक और गृहपरिवेश से लेकर जलसंसाधन की उपलब्धता तक—इन सभी को परस्पर सम्बद्ध करके देखने की दृष्टि बृहत्संहिता के वास्तु-विवेचन को एक व्यापक एवं समन्वित ज्ञान-परम्परा का स्वरूप अभिव्यक्त करती है।

प्रासादलक्षण : प्राचीन भारतीय स्थापत्य-चिन्तन का महत्त्व

स्थापत्य-चिन्तन का अधिक विकसित स्वरूप प्रासादलक्षण से सम्बन्धित विवेचन में दृष्टिगोचर होता है। देवमन्दिर के निर्माण के लिए ऐसे स्थान का चयन करने का निर्देश दिया गया है, जहाँ जलाशय, उद्यान, नदी, पर्वत, निर्झर तथा प्राकृतिक सौन्दर्य का समुचित समावेश हो—

“सलिलौद्यानयुक्तेषु कृतेष्वकृतेषु च ।

स्थानेष्वेतेषु सान्निध्यमुपगच्छन्ति देवताः”॥^{१२}

विशेषतः स्वच्छ जल से परिपूर्ण, कमलों से सुशोभित सरोवर, राजहंस, कारण्डव, क्रौञ्च, चक्रवाक आदि जलचर पक्षियों से युक्त तथा नदी-तटवर्ती वृक्षों की शीतल छाया से सम्पन्न परिवेश को देवमन्दिर हेतु उपयुक्त सिद्ध होता है—

“सरःसु नलिनीछत्रनिरस्तरविरश्मिषु ।

हंसाक्षिप्तकह्लारवीथीविमलवारिषु॥

हंसकारण्डावक्रौञ्चचक्रवाकविराविषु।

पर्यन्तनिचुलच्छायाइश्रान्तजलचारिषु”॥^{१३}

यहाँ स्थापत्य और प्रकृति एक-दूसरे से पृथक् नहीं हैं। मन्दिर की पवित्रता केवल उसके अभ्यन्तर प्रतिष्ठित देवप्रतिमा के कारण निर्धारित नहीं होती; मन्दिर के चतुर्दिशाओं में स्थित जल, वृक्ष, उद्यान तथा प्राकृतिक परिवेश भी उसके धार्मिक वातावरण के निर्माणकार्य में सक्रिया भूमिका निर्वाह करता है। इसीलिए मन्दिर को एक व्यापक प्राकृतिक परिदृश्य के साथ सम्बद्ध रूप में देखा जाता है। मन्दिर-निर्माण में भी वास्तुमण्डल का प्रयोग किया गया है। चतुःषष्टिपद वास्तुमण्डल तथा उसके मध्यवर्ती भाग में प्रवेशद्वार की व्यवस्था का निर्देश प्राप्त होता है। मन्दिर के विस्तार तथा उच्चता के मध्य निश्चित अनुपात बनाए रखने का विधान है। गर्भगृह, आधार, उन्नयन तथा अन्य स्थापत्य-अवयवों के मध्य भी परिमाणगत सामञ्जस्य स्थापित किया गया है। फलतः देवमन्दिर का स्थापत्य भी एक सुव्यवस्थित ज्यामितीय एवं परिमाण-आधारित योजना पर प्रतिष्ठितरूप में दिखाई देता है।

प्रासादलक्षण में विभिन्न प्रकार के प्रासादों के नाम और उनकी विशिष्टताओं का उल्लेख मिलता है। मेरु, मन्दर, कैलास, विमान, नन्दन, समुद्र, पद्म, गरुड, नन्दिवर्धन, कुञ्जर, गुहराज, वृष, हंस, सर्वतोभद्र, घट, सिंह, वृत्त, चतुष्कोण, षोडशात्रि तथा अष्टात्रि आदि नामों के माध्यम से विभिन्न स्थापत्यरूपों को अभिहित किया गया है। उनके विस्तार, उच्चता, तलों, शिखरों, आकृति, द्वार तथा अन्य स्थापत्य-अवयवों में विद्यमान भिन्नताओं के आधार पर यह वर्गीकरण निर्मित हुआ है।

मेरु-प्रासाद के सम्बन्ध में विशाल विस्तार, बहुस्तरीय उन्नयन तथा द्वारचतुष्टय का उल्लेख मिलता है। मन्दर, कैलास और नन्दन आदि प्रासादों की भी पृथक् उच्चता एवं स्थापत्यगत विशेषताएँ निर्धारित की गई हैं। समुद्र को गोलाकार, पद्म को पद्माकृति, गरुड को गरुडाकृति, कुञ्जर को हस्तिपृष्ठ के सदृश तथा हंस को हंसाकृति माना गया है। इस प्रकार के नामकरण से स्पष्ट होता है कि प्रासाद-स्थापत्य में ज्यामितीय रूपों के साथ-साथ पशु, वनस्पति तथा पौराणिक प्रतीकों का भी सृजनात्मक उपयोग किया जाता था—

“तत्र षडश्रिमेरुर्द्वादशभौमो विचित्रकुहरश्च ।

द्वारैर्युतश्चतुर्भिर्द्वात्रिंशद्भस्तविस्तीर्णः”॥^{१४}

सर्वतोभद्र-प्रासाद की प्रमुख विशेषताओं में चार द्वार, अनेक शिखर तथा बहुस्तरीय विन्यास का उल्लेख प्राप्त होता है। सिंह-प्रासाद में सिंह-चिह्न तथा बहुभुजीय आकृति का निर्देश मिलता है। घट-प्रासाद घट के सदृश गोलाकार तथा वृत्त-प्रासाद वृत्ताकार स्वरूप का माना गया है। इस विविधता से स्पष्ट होता है कि प्रासादस्थापत्य किसी एकरूप परम्परा तक सीमित न रहकर विशिष्ट ज्यामितीय, प्रतीकात्मक और सौन्दर्यपरक रूपों के आधार पर उसके अनेक प्रकार विकसित हुए थे।

बृहत्संहिता के स्थापत्य-चिन्तन की एक महत्त्वपूर्ण विशेषता अनुपात के प्रति उसकी सूक्ष्म दृष्टि है। गृह का विस्तार, दैर्घ्य, उच्चता, द्वार, स्तम्भ, शाला, आलिन्द तथा गर्भगृह इन प्रत्येक अवयव को अन्य अवयवों के साथ उसके पारस्परिक सम्बन्ध में देखा गया है। इसलिए यह स्थापत्यसौन्दर्य किसी पृथक् अलङ्करण का परिणाम नहीं, बल्कि समग्र अनुपात और सुव्यवस्थित विन्यास से उत्पन्न होने वाला गुण है।

द्वार-शाखाओं की संख्या, द्वार के ऊपरी भाग का अलंकरण तथा विहग, वृक्ष, स्वस्तिक, घट, मिथुन, पत्र-वल्लरी और अन्य अलंकारिक रूपों के प्रयोग का उल्लेख भी प्रासादलक्षण में मिलता है। इससे स्थापत्य की उपयोगितापरक संरचना और सौन्दर्य-बोध के मध्य एक सुन्दर समन्वय स्थापित होता है। स्थापत्य की शैली जहाँ निश्चित अनुपात का अनुसरण करता है, वहीं उसका अलङ्करण भी एक विशिष्ट सांस्कृतिक प्रतीक-भाषा को अभिव्यक्त करता है—

“शेषं मङ्गल्यविहगैः श्रीवृक्षैः स्वस्तिकैर्घटैः ।

मिथुनैः पत्रवल्लरीभिः प्रमथैश्चोपशोभयेत्”॥^{१५}

निर्माण, धार्मिक संस्कार एवं सामाजिक जीवन

स्थापत्य के साथ धार्मिक संस्कारों का जो आन्तरिक सम्बन्ध इस विवेचन में दृष्टिगोचर देता है, वह विशेष रूप से उल्लेखनीय है। गृहनिर्माण के आरम्भ से लेकर गृहप्रवेश तक विभिन्न चरणों में देवता, ब्राह्मण, स्थपति और गृहपति की भूमिकाएँ निर्धारित की गई हैं। निर्माण से पूर्व पूजा, शुभलक्षणों का निरीक्षण, उपयुक्त समय का चयन तथा निर्माण के विभिन्न चरणों में संस्कारों के पालन का विधान मिलता है। गृहप्रवेश के अवसर पर पुष्प, तोरण, जलपूर्ण कलश, धूप, गन्ध, नैवेद्य आदि के प्रयोग का भी निर्देश किया गया है—

“भूरिपुष्पविकरं सतोरणं तोयपूर्णकलशोपशोभितम् ।

धूपगन्धबलिपूजितामरं ब्राह्मणध्वनियुतं विशेषदृहम्”^{१६}

इन समस्त निर्देशों से स्पष्ट होता है कि गृह केवल निवास करने का स्थान नहीं था; वह सामाजिक, धार्मिक और पारिवारिक जीवन का भी केन्द्र था। इसी कारण गृहनिर्माण को एक पवित्र कर्म के रूप में स्वीकार किया गया और स्थपति, गृहपति तथा पुरोहित—इन तीनों की भूमिकाएँ निर्माणप्रक्रिया में परस्पर सम्बद्ध रहीं।

बृहत्संहिता के विवेचन से जो स्थापत्यदृष्टि सन्मुख में प्रकाशित होती है, वह एकतः अत्यन्त नियमबद्ध है, तो द्वितीयतः प्रकृति और मानवजीवन के साथ गहन रूप में सम्बद्ध है। भूमिचयन, मृत्परीक्षण, जलानुसन्धान, गृहपरिमाण, दिक्-निर्णय, वास्तुमण्डल, मर्मस्थान, शाला-आलिन्द, द्वार, स्तम्भ, वृक्ष, गृह का आन्तरिक उपयोग तथा देवमन्दिर का परिवेश—इन सभी को एक ही व्यापक स्थापत्यचिन्तन के अङ्ग के रूप में माना गया है।

यहाँ स्थापत्यज्ञान मूलतः त्रिविध स्तरों पर कार्य करता हुआ दृष्टिपथ में आता है। प्रथम, परिमाण और निर्माणविज्ञान—जिसमें दीर्घता विस्तार, उच्चता, अनुपात तथा संरचना के सम्बन्ध में निर्देशन हैं। द्वितीय, स्थान और पर्यावरणज्ञान, जिसमें भूमि, जल, वृक्ष, दिशा, ढाल तथा प्राकृतिक परिवेश को ध्यान में रखा गया है। तृतीय, धार्मिक एवं सांस्कृतिक विन्यास—जिसमें वास्तुपुरुष, देवताओं के स्थान, पूजा, शुभाशुभ लक्षण तथा मन्दिर के पवित्र परिवेश के निर्माण का विधान है। ये स्तरत्रय एक-दूसरे से पृथक् नहीं हैं; अपि तु परस्पर सम्बद्ध होकर सम्पूर्ण स्थापत्यतत्त्व को एक समन्वित रूप प्रदान करते हैं।

उपसंहृति

वराहमिहिर की बृहत्संहिता में स्थापत्य एवं निर्माणविषयक ज्ञान प्राचीन भारतीय ज्ञानपरम्परा का एक सुव्यवस्थित तथा बहुमुखी स्वरूप सम्प्रस्तुत करता है। वास्तुविद्या के विवेचन में गृहनिर्माण के परिमाण, सामाजिक एवं कार्यगत आवश्यकताओं के अनुरूप गृह के प्रकार, शाला एवं आलिन्द का विन्यास, द्वार एवं स्तम्भ के अनुपात, वास्तुमण्डल तथा वास्तुपुरुष की संकल्पना, मर्मस्थानों की रक्षा और निर्माणपूर्व भूमि-परीक्षण इत्यादि विषय पर्यालोचन स्थापत्य की तात्त्विक आधारभूमि निर्माण करते हैं। उद्गार्गल के विवेचन में भूमिगत जल से सम्बन्धित ज्ञान के समावेश से स्थापत्य और भूमिज्ञान के पारस्परिक सम्बन्ध का स्वरूप इतोऽपि अधिक स्पष्टतर प्रतीत होता है। पुनः प्रासादलक्षण में जलाशय, उद्यान तथा प्राकृतिक सौन्दर्य से सम्पन्न परिवेश में देवमन्दिर की प्रतिष्ठा, वास्तुमण्डल का प्रयोग, गर्भगृह का परिमाण तथा विभिन्न प्रकार के प्रासादों का विवरण प्राचीन मन्दिरस्थापत्य की सुविचारित एवं योजनाबद्ध प्रकृति को हमारे सम्मुख उपस्थित करता है।

इस सम्पूर्ण विवेचन से विशेष रूप से यह तथ्य उद्घाटित होता है कि प्राचीन भारतीय स्थापत्य में रूप, परिमाण, पर्यावरण, व्यावहारिक आवश्यकता और धार्मिक अर्थ एक-दूसरे से अपृथक् है। किसी गृह का आकार जहाँ निश्चित अनुपातों से नियन्त्रित होता था, वहीं उसकी स्थिति, प्रवेशद्वार, आन्तरिक विन्यास तथा समीपवर्ती वृक्ष, जल और भूमि के साथ उसका सम्बन्ध भी विचारणीय था। इसी प्रकार देवमन्दिर भी केवल एक स्थापत्यमात्र विज्ञात नहीं होता था। उसमें जलाशय, उद्यान, वृक्ष, पक्षी, प्राकृतिक दृश्य और धार्मिक संस्कारों को अपने साथ सम्पृक्त करके एक सम्पूर्ण पवित्र परिसर का रूप देवमन्दिरस्थापत्य में रूप परिग्रह किया था।

अतः बृहत्संहिता के स्थापत्यचिन्तन को केवल प्राचीन निर्माणविधियों के संग्रह के रूप में देखने पर उसके वास्तविक महत्त्व नियन्त्रित और सीमित हो जाता है। यह ऐसी ज्ञानव्यवस्था है जिसमें भूमि से गृह पर्यन्त, गृह से परिवेश, जल से

उद्यान तथा मन्दिर से धार्मिक वातावरण पर्यन्त समस्त उपादानों को एक समन्वित योजना के अन्तर्गत लक्षित किया गया है। इसी कारण बृहत्संहिता में संरक्षित वास्तुविद्या एवं प्रासादलक्षण प्राचीन भारतीय स्थापत्यपरम्परा की तात्त्विक आधारभूमि तथा उसकी प्रयोगात्मक दक्षता—दोनों को समझने के लिए अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्रोत हैं। प्रासादलक्षण अध्याय के अन्त में आचार्य वराहमिहिर स्वयं पूर्ववर्ती स्थापत्यपरम्परा के प्रति अपने ऋण को स्वीकार करते हुए कहते हैं—

“प्रासादलक्षणमिदं कथितं समासाद्गौणं यद्विरचितं तदिहास्ति सर्वम् ।

मन्वादिभिर्विरचितानि पृथूनि यानितत्संस्पृशन् प्रति मयात्र कृतोऽधिकारः” ॥^{१७}

अतः बृहत्संहिता का स्थापत्य-चिन्तन एक ओर वराहमिहिर की संकलन-दृष्टि और सुव्यवस्थित प्रस्तुतीकरण-क्षमता का परिचायक है, तो दूसरी ओर यह पूर्ववर्ती भारतीय स्थापत्य-ज्ञान-परम्परा के संरक्षण, पुनर्विन्यास और पुनर्प्रस्तुतीकरण का भी एक महत्त्वपूर्ण प्रमाण है।

अन्त्यटिप्पणी:

१. बृहत्संहिता में वास्तुविद्याध्याय ५३/१
२. तत्रैव ५३/११
३. तत्रैव ५३/५७
४. तत्रैव ५३/३१-३२
५. अच्युतानन्द झा शर्मा कर्तृक सम्पादित बृहत्संहिता में वास्तुविद्याध्याय, पृ० १७-१९
६. बृहत्संहिता में वास्तुविद्याध्याय ५३/२४
७. तत्रैव ५३/२८-२९
८. तत्रैव ५३/९०
९. तत्रैव ५३/९६-९७
१०. तत्रैव ५३/८३-८४
११. बृहत्संहिता में दर्कगलाध्याय ५४/१-२
१२. बृहत्संहिता में प्रासादलक्षणाध्याय ५६/३
१३. तत्रैव ५६/४-५
१४. तत्रैव ५६/२०
१५. तत्रैव ५६/१५
१६. बृहत्संहिता में वास्तुविद्याध्याय ५३/१२३
१७. बृहत्संहिता में प्रासादलक्षणाध्याय ५६/३१

सहायकग्रन्थानुक्रमणी

- Acharya, Prasanna Kumar. *An Encyclopaedia of Hindu Architecture*. Oxford University Press, 1946.
- Acharya, Prasanna Kumar. *Architecture of the Hindus: A Study of the Vāstu-Śāstras*. Oxford University Press, 1927.
- Acharya, Prasanna Kumar. *Hindu Architecture in India and Abroad*. Manasara Series, vol. 1, Oxford University Press, 1946.
- Dagens, Bruno, translator. *Mayamata: An Indian Treatise on Housing, Architecture and Iconography*. Translated by Bruno Dagens, Motilal Banarsidass, 1985.
- Kramrisch, Stella. *The Hindu Temple*. 2 vols., Motilal Banarsidass, 1976.
- Rao, T. A. Gopinatha. *Elements of Hindu Iconography*. 2 vols., Motilal Banarsidass, 1985.
- Shukla, D. N. *Vāstuśāstra: Hindu Science of Architecture*. Munshiram Manoharlal Publishers, 1993.
- वराहमिहिर. *वराहमिहिरकृत बृहत्संहिता*. सम्पादक अच्युतानन्द झा. चौखम्भा विद्याभवन, २०१४.
- वराहमिहिर. *वराहमिहिरकृत बृहत्संहिता*. सम्पादक पंचानन तर्करत्न एवं केवलचन्द्र चट्टोपाध्याय. कलकत्ता, १८१५ शकाब्द.
- वराहमिहिर. *वराहमिहिरकृत बृहत्संहिता*. सम्पादक सुधाकर द्विवेदी. चौखम्भा संस्कृत सीरीज़ ऑफिस, १९६८.